UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186181

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—901—26-3-70—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 491.43 P18U Accession No. G.H. 1188

Author पाठक, चंद्रकला

Title उर्दू का रहस्य

This book should be returned on or before the date last marked below.

उर्दू का रहस्य

उर्दू का उद्गम

उर्दू के सच्चे संकेत को छिपाकर नीतिवश उसकी जो मनमानी 'लश्करी और बाजारी' व्याख्या की गई वह इतनी सर्वप्रिय और काम की सिद्ध हुई कि आज इस खोज के युग में भी लोग उसी का गुणगान करते जा रहे हैं और भूलकर भी इतना सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि क्योंकर किसी लश्कर या लश्करी बाजार की भाषा राष्ट्र की शिष्ट और व्यापक भाषा हो सकती है। किसी भी लश्कर या बाजार की कामकाजी भाषा को राष्ट्र या काव्य की भाषा की पदवी प्रदान कर देना साहस नहीं बुद्धि और विवेक का उपहास है। आश्चर्य और चित्त को चकित कर देनेवाली अद्भुत एवं विलक्षण बात तो यह है कि सर जार्ज ग्रियर्सन जैसे प्रखर प्रतिभासम्पन्न भाषाविदों ने भी उर्दू के इस जाली संकेत को शुद्ध मान लिया है और उसी के कल्पित आधार पर उसमें हिंदियों का योग भी अधिक मान लिया है। और यहाँ तक कहने का साहस कर लिया है कि उर्दू का व्यापक प्रचार मुगल सामंतों के द्वारा हुआ पर कभी यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि अकबर से लेकर शाहजहाँ

क्या औरंगजेब तक मुगलों ने जिस देशभाषा का स्वागत किया वह उनकी राजधानी की भाषा ब्रजभाषा थी न कि खड़ी बोली, उर्दू या कोई और हिंदुस्तानी। औरंगजेब जैसे कट्टर मुगल मुसलिम शासक ने तो ब्रजभाषा को इतना महत्त्व दिया कि उसके एक व्याकरण, पिंगल और कोश का संपादन भी उसकी छत्रछाया में हो गया। उसकी इस भाषा-निष्ठा पर रीझकर अल्लामा शिबली नुमानी ने तो यहाँ तक खोज निकाला कि :

"ब्रजभाषा की जिस क़दर इसके ज़माने में तरक्क़ी हुई, मुसलमानों ने जिस क़दर इसके ज़माने में हिंदी किताबों के तरजुमे किए, और ख़ुद जिस क़दर ब्रजभाषा में नज़्म व नस्र लिखी, किसी ज़माना में इस क़दर हिंदी की तरफ़ इल्तफ़ात नहीं ज़ाहिर किया गया था"[1]।

यही क्यों, अभी उस दिन मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार ने ब्रजभाषा को सराहा था और खान आरजू (मृ० ११६९ हि०) ने ब्रजभाषा ही को शिष्ट भाषा माना था। उनकी इस चेष्टा पर आश्चर्य कर जनाब महमूद शेरानी साहब फरमाते हैं :

"सबसे ज़्यादा जिस बात से ताअज्जुब होता है यह है कि खान देहली की ज़बान और उर्दू को भी वक़अत की निगाह से नहीं देखते। उनके नज़दीक हिंदोस्तानी ज़बानों में सबसे

१—मुक़ालाते शिबली, जिल्द दोम, मारिफ़ प्रेस आज़मगढ़, सन् १९३१ ई०, पृ० ६३।

ज्यादा शाइस्ता और मुहज्जब ज़बान ग्वालियारी है। चुनांचे इसी ग्वालियारी के अल्फाज़ अक्सर मौक़ों पर न.क्ल किए हैं और उर्दू से बहुत कम सनद ली है"[१]।

अस्तु, उर्दू भाषा के सच्चे संकेत के लिये हमें मुगल-सामंतों के पास जाने और लश्कर एवं बाजार की खाक छानने की जरूरत नहीं। उर्दू भाषा का अर्थ स्पष्ट है। सुनिए। सैयद सुलैमान साहब नदवी जैसे भाषा-मनीषी का कहना है :—

"आजकल बाज़ फ़ाज़िलों ने 'पंजाब में उर्दू' और बाज़ अह्ले दकन ने 'दकन में उर्दू' और बाज़ अज़ीज़ों ने 'गुजरात में उर्दू' का नारा बुलन्द किया है। लेकिन हक़ीक़त यह मालूम होती है कि हर मुमताज़ सूबे की मुक़ामी बोली में मुसलमानों की आमद व र.फ्त और मेलजोल से जा तग़ैयुरात हुए उन सबका नाम उर्दू रक्खा गया है। हालाँ कि उनका नाम पंजाबी, दक्खिनी या गुजराती और गूजरी वग़ैरह रखना चाहिए, जैसा कि उस अहद के लोगों ने कहा है। यह तग़ैयुरात जब मुमताज़ सूबों में हो रहे थे तो .खुद पायेत.ख्त देहली में तो और ज्यादा होते"[२]।

अल्लामा सैयद सुलैमान साहब का कहना सर्वथा साधु है। उर्दू शब्द का व्यवहार एक निश्चित अर्थ में ही करना चाहिए।

१—ओरियटल कालेज मेगज़ीन, हिस्सा अव्वल, लाहौर नवंबर सन् १९३१ ई०, पृ० १०।

२—मुक़ालाते उर्दू, अंजुमने उर्दू-ए-मुअल्ला, मुसलिम यूनीवर्सिटी प्रेस, अलीगढ़, सन् १९३४, पृ० ४९।

किंतु उनका यह दावा ठीक नहीं कि दक्खिनी और गूजरी मुक़ामी बोलियों का नाम है। इसकी कुछ चर्चा राष्ट्रभाषा की परंपरा[1] शीर्षक लेख में हो चुकी है। प्रसंगवश यहाँ इतना स्पष्ट कह देना है कि उक्त भाषाएँ वस्तुतः राष्ट्र-भाषा हिंदी की देशगत बोलियाँ हैं। यही कारण है कि उनके लेखकों ने कभी कभी उनको हिंदी भी कहा है। हाँ, तो

"अमीर ख़ुसरो और अबुल्फ़ज़ल दोनों ने देहलवी ज़बान का अलग नाम लिया है। अहद शाहजहानी में जब यहाँ उर्दू-ए-मु.अल्ला बना तो उस ज़बाने देहली या ज़बाने-देहलवी का नाम ज़बाने-उर्दू-ए मु.अल्ला पड़ गया। चुनांचे ल.फ़्ज़ उर्दू ज़बान के माने में देहली के अलावा किसी सूबे की ज़बान पर एतलाक़ नहीं पाया है। मीर तक़ी 'मीर' की तहरीरी सनद में जब इसका नाम पहली दफ़ा आया है तो इस्तेलाह के तौर पर नहीं बल्कि लुग़ात के तौर पर आया है। याने 'मीर' ने 'उर्दू ज़बान' नहीं कहा, बल्कि 'उर्दू की ज़बान' कहा है।"[2]

उक्त मौलाना ने 'उर्दू ज़बान' और 'उर्दू की ज़बान' में जो भेद बताया है वह बहुत ही विचारणीय है। मीर तक़ी 'मीर' ने

१—देखिए भाषा का प्रश्न, नागरीप्रचारिणी सभा काशी, संवत् १९९६ वि०, पृ० ३९ से ४५।

२—मुक़ालाते उर्दू, अंजुमने उर्दू-ए-मुअल्ला, मुसलिम यूनीवर्सिटी प्रेस, अलीगढ़, सन् १९३४ ई०, पृ० ४९।

क्यों 'उर्दू ज़बान' न कहकर 'उर्दू की ज़बान' कहा, यह भी तनिक सोचने की बात है। सच्ची बात तो यह है :—

"जिन मोवर्रिख़ीने उर्दू ने अहदे शाहजहानी को उर्दू की नशोनुमा का अहद क़रार दिया है वह शाहजहाँ के उर्दुएमुअल्ला की मुनासिबत से इसका नाम उर्दू रखा जाना तजवीज़ फ़रमाते हैं। मगर इसकी कोई सनद नहीं कि अहद मज़कूर में इस ज़बान का नाम उर्दू था। इंतहा यह है कि दिल्ली के उर्दू बाज़ार का नाम भी उस अहद में यह न था। हमने ऊपर साबित किया है कि इंतहा से आख़िर तक हमारी ज़बान का नाम हिंदी रहा। जब 'वली' दकनी ने मज़ामीन फ़ारसी की चाशनी हिंदी नज़्म में पैदा की तो ख़ास अदबी व शेरी ज़बान को रेख़ता कहने लगे। उस वक़्त तक भी उर्दू का लफ़्ज़ इस ज़बान के लिए मुस्तामल न हुआ था। चुनांचे मीर तक़ी 'मीर', मीर हसन देहलवी, क़याम उद्दीन 'क़ायम' ने अपने अपने तज़किरों में कलाम उर्दू के लिये रेख़ता ही का लफ़्ज़ इस्ते.माल किया है। उर्दू का लफ़्ज़ इस मफ़हूम में इस्ते.माल नहीं किया। ज़िक्रे मीर और तज़किरा नेकातश्शुअ.राय में मीर साहब लिखते हैं :

"दरफ़ने रेख़ता कि शेरेस्त बतौर शेर फ़ारसी वज़बाने उर्दू-ए-मुअल्ला शाहजहाँ आबाद देहली"।[1]

१—दीबाचा नेकातश्शुअराय।

"रेख़ता कि शेरेस्त बतौर शेरफ़ारसी बज़बाने उर्दूएमुअ़ल्ला बादशाह हिंदोस्तान"[१]।

"क्या इससे यह नतीजा अरख़ज़ हो सकता है कि उर्दू का मौलद व मावा दरबार था न बाज़ार। और उर्दू उर्दू बाज़ार से नहीं निकली बल्कि उर्दू बाज़ार उर्दू के लिये बनाया गया है"।[२]

नवाब सदरयार जंगबहादुर ने कहने को तो सच्ची बात कह दी पर उसे खुलकर कह दिखाने अथवा सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की। हाँ, कृपा कर इतना और कह दिया—

"ताशकंद और ख़ूकंद में अब उर्दू क़िला के माने में मुस्तामल है। इसी लिये दिल्ली का क़िला उर्दूएमुअल्ला कहलाया होगा"।[३]

'किलामुअल्ला' और 'उर्दूएमुअल्ला' की एकता में किसी को संदेह नहीं। 'लालकिला' भी 'किलामुअल्ला' का एक ठेठ नाम है। अब देखना यह है कि 'उर्दू की जबान' में 'उर्दू' का अर्थ यही 'किलामुअल्ला' है अथवा कुछ और। संयोग से जनाब 'अरशद' गोरगानी की साक्षी मिल गई। उन्होंने साफ साफ कह दिया कि :

१—ज़िक्रे मीर।

२—मुकालाते उर्दू, अंजुमने उर्दू-ए-मुअल्ला, मुसलिम यूनीवर्सिटी प्रेस, अलीगढ़, सन् १९३४ ई०, पृ० ६७।

३—मुकालाते उर्दू, वही पृ० ६७।

"अगर चे उसमें नहीं रहा दम, फ़क़त ज़बाँ पर है उसका मातम,
वह क़िला कहता था जिसको आलम, कि हिंद में है यह काने उर्दू"।

'उर्दू की कान' का पता चल गया। अब थोड़ा यह देख लीजिए कि 'उर्दू की ज़बान' का प्रचार किस प्रकार किया गया और कब तक उर्दू 'उर्दू की ज़बान' के रूप में चालू रही। सबसे पहले मीर अम्मन देहलवी को लीजिए। इन्हीं महानुभाव ने 'लश्कर का बाज़ार शहर में दाख़िल' कर और 'आपस में लेनदेन, सौदासुल्फ़, सवाल जवाब' की कल्पना कर उर्दू को 'बाजारी' और 'लश्करी' जबान बना दिया नहीं तो वह वस्तुतः थी 'दरबारी' जबान। किंतु ध्यान देने की बात है कि स्वयं मीर अम्मन ने 'उर्दू की ज़बान' का ही व्यवहार किया है। उनका कहना है :

"साहबाने ज़ीशान को शौक हुआ कि उर्दू की ज़बान से वाक़िफ़ होकर हिंदुस्तानियों से गुफ़्त व शुनूद करें और मुल्की काम को बाग़ाही तमाम अंजाम दें। इस वास्ते कितनी किताबें इसी साल १८०१ ई० में बमूजिब फ़रमाइश के तालीफ़ हुईं।"[१]

'मुल्की काम' को अंजाम देने के लिये फारसी की जिस भावती को सराहा गया वह उर्दू यानी दरबार की जबान थी। मीर अम्मन उसी दीबाचे में यद्यपि हिंदुस्तानी की भी तान छेड़ जाते हैं पर कहते हैं सर्वत्र उसे 'उर्दू की ज़बान' ही। देखिए :

"हक़ीक़त उर्दू की ज़बान की बुज़ुर्गों के मुँहसे यूँ सुनी है"।

१—बाग़ोबहार का दीबाचा।

"निदान ज़बान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती"।

अच्छा हो, लगे हाथों उसी फोर्ट विलियम कालेज के एक दूसरे मुंशी मीर शेर अली अफ़सोस 'लखनवी' की सनद भी आपके सामने पेश कर दी जाय। शाहजहानाबाद के प्रसग में आप अपनी प्रसिद्ध किताब आराइशे मोहफिल में कहते हैं :

"बहुत मैंने यूँ इसकी तारीफ़ की,
है उर्दू की बोली का माख़ज़ यही।"

इस उर्दू की बोली की कड़ी पाबन्दी को देखना हो तो मीर शेरअली अफ़सोस के इस कथन पर ध्यान दें :

"अवध लखनऊ वग़ैरह के गँवार ज़मींदार ऊख कहते हैं, और दिल्ली के कुर्ब व जवार के ईख। अक़साम इसके बहुत हैं और हर क़िस्म का एक नाम अलहदा है लेकिन साहिबाने उर्दू की ज़बान पर सिवाय गन्ने, कतारे, पौंडे के और क़िस्मों का नाम जारी नहीं"[१]।

साहिबाने उर्दू का परिचय प्राप्त करने के पहले उर्दू की जबान का एक शाइरी अखाड़ा भी देख लीजिए। उस्ताद 'मसहफी' को फक्कड़ सैयद इंशा ने किस शान से चित कर दिया है और उनकी जबान पकड़ कर उर्दू की जबान की छबि दिखा दी है। देखिए आप किस तुर्रे के साथ फरमाते हैं :

१—आराइशे मोहफ़िल, चन्द सतरें मेवों के वस्फ़ में।

"मुश्फ़िक़ कड़ी कमान की कडरी न बोलिए,
चिल्ला के मुझ तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह ? भला खाइए क़सम,
इस बात पर अब आप ही मसहफ़ उठाइए।"[१]

देखा आपने ? यह है उर्दू की बोली जिसका निर्वाह उस्ताद 'मसहफी' भी न कर सके और अंत में कुरान शरीफ की कसम खाने की नौबत आ गई। फिर आप इस 'उर्दू की जबान' और इस 'उर्दू की बोली' को 'लश्कर' की 'बोली' या 'बाज़ार' की 'जबान' क्यों समझते हैं ? क्या आपको पता नहीं कि उर्दू के लोग 'लश्कर' की 'सतबेझड़ी' और 'बाजार' की 'सूकियानी' या 'बाजारी जबान' को किस निगाह से देखते हैं ? यदि हाँ तो क्या आप 'उर्दू की जबान' को 'लश्कर' या 'बाजार' की जबान इसी लिये मानते या बताते हैं कि उर्दू का लुगती अर्थ लश्कर और बाजार होता है ? अच्छा, हम आपको यह स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि 'उर्दू की जबान' में 'उर्दू' का सटीक अर्थ क्या है। आपने पहले ही सुन लिया है कि 'उर्दूएमुअल्ला' का

१—मौलाना आज़ाद ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आबेहयात में इसकी खूब चर्चा की है। 'मसहफी' और 'इशा' की नोकझोंक प्रसिद्ध ही है। सैयद इंशा 'मसहफी' शब्द को पकड़ते और 'मसहफी' से कहते हैं कि यदि तुम सचमुच मसहफी हो तो अब 'कुरान मजोद' को उठाकर कसम खाओ कि तुम्हारा प्रयोग ठीक है। 'मसहफ उठाना' का अर्थ है कुरान शरीफ को उठाकर शपथ खाना।

बराबर व्यवहार हुआ है 'किलामुअल्ला' अथवा शाहजहानाबाद के लालकिला के लिये और आपने देख भी लिया है कि जनाब 'अरशद' गोरगानी ने खुले शब्दों में उसी को उर्दू की खान कहा है। अब यहाँ तनिक उसी फक्कड़ी इंशा की भी गवाही लीजिए कि 'उर्दू' क्या है। उसका फारसी में कहना है कि :

"ईं मजमा हरजा कि बिरसद औलाद आँहा दिल्लीवाल गुफ़ः शवन्द व महल्लः ईं शाँ महल्लः अहल देहली। व अगर तमाम शहर रा फ़रा गीरन्द आँ शहर रा उर्दू नामन्द। लेकिन जमा शुदन ईं हज़रात दर हेच शहरे सिवाय लखनऊ निज्द फ़क़ीर साबित नीस्त। गो बाशिन्दगाने मुर्शिदाबाद व अज़ीमाबाद बज़ात .खुद .खुदरा उर्दूदाँ व शहर .खुद रा उर्दू दानंद।"[1]

सैयद इंशा का सीधा सादा अर्थ यह है कि यह संघ जहाँ कहीं जाता है, इसकी संतान को 'दिल्लीवाला' और इसके महल्ले को दिल्लीवालों का महल्ला कहते हैं। और यदि इन लोगों ने सारे शहर को घेर लिया तो उसको उर्दू कहते हैं। किंतु लखनऊ के अतिरिक्त और किसी शहर में उनका बस जाना सिद्ध नहीं होता। कहने को तो मुर्शिदाबाद और पटना में बस जानेवाले भी अपने आप को 'उर्दूदाँ' और अपने शहर को 'उर्दू' कहते हैं।

सैयद इंशा ने खुलकर जो कुछ कहा है उसी की प्रतिध्वनि मीर अम्मन देहलवी के इस कथन में सुनाई देती है :—

१—दरियाए लताफ़त, अंजुमने तरक्क़ीये उर्दू, (हिंदी) दुरदानये सोम, नाज़िर प्रेस, लखनऊ, सन् १९१६ ई०, पृ० ७३।

"अहमदशाह अबदाली काबुल से आया और शहर को लुटवाया। शाह आलम पूरब की तरफ़ से कोई वारिस मुल्क का न रहा। शहर बे सर हो गया। सच है कि बादशाहत के इक़बाल से शहर की रौनक़ थी। एकबारगी तबाही पड़ी। रईस वहाँ के मैं कहीं और तुम कहीं होकर जिसके सींग समाए वहाँ निकल गए। जिस मुल्क में पहुँचे वहाँ के आदमियों के साथसंगत से बातचीत में फ़क़ आया और बहुत ऐसे हैं कि दस पाँच बरस किसी सबब से दिल्ली में गए और रहे। वे भी कहाँ तक बोल सकेंगे। कहीं न कहीं चूक ही जावेंगे।"[1]

तात्पर्य यह कि उर्दू के धनी उर्दू को सदा से भाषा की छूत से बचाते रहे हैं, और उन लोगों को भी अपनी जबान से टाट बाहर करते रहे हैं जो उर्दू के होते हुए भी उर्दू से कुछ दूर पड़ गए हैं। यही कारण है कि अजीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद के लोग उर्दू के होते हुए भी उर्दू की टकसाल से बाहर कर दिए गए। रही लखनऊ की बात। सो उसके विषय में इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि दिल्ली की तबाही के बाद उर्दू की रोटी उसी के हाथ में रह गई और उसी ने उर्दू को सर चढ़ाया। फलतः सैयद इंशा ने उसे भी 'उर्दू' मान लिया। पर यह उर्दू है क्या? क्यों लोग उस शहर

१—बाग़ो बहार का दीबाचा।

को 'उर्दू' कहने लग जाते थे जिसमें देहली के लोग जा बसते थे ? क्या इसका भी कुछ रहस्य है ?

बात यह है कि उर्दू वस्तुतः मुगल-भाषा का शब्द है। मुगलों की प्रथा यह थी कि जब मुगल अमीर घर से बाहर किसी पड़ाव पर जाते थे तो अपने बालबच्चों को साथ ले लेते थे। उनके इसी बाहरी पड़ाव का नाम उर्दू होता था। चंगेज खाँ से लेकर सैयद इंशा के समय तक उर्दू का यह प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अकबर और जहाँगीर के कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिनपर टकसाल का नाम उर्दू लिखा हुआ है। जहाँगीर के एक सिक्के पर तो 'उर्दू दरराहे दकन' भी मिलता है। मतलब यह कि 'उर्दू' का एक निश्चित प्रयोग है। पर यह निश्चित प्रयोग हमारी 'उर्दू की जबान' की जबान के समझने में कुछ अड़चन उत्पन्न कर देता है। कारण प्रत्यक्ष है। यह एक जातिवाचक शब्द है। हम यहाँ जिस उर्दू की जबान पर विचार कर रहे हैं वह एक व्यक्तिवाचक संज्ञा है। इस उर्दू का अर्थ है 'उर्दूएमुअल्ला' अथवा देहली का लालकिला। किंतु किलामुअल्ला का नाम उर्दूएमुअल्ला क्यों पड़ा और क्यों किलामुअल्ला के लोग बाहर बस जाने पर उस निवास या उपनिवेश को उर्दू कहते थे, यह इस विवेचन से स्पष्ट हो गया। अब आप 'उर्दू' का चाहे जो अर्थ करें पर आपको विवश हो मानना ही पड़ेगा कि 'उर्दू' का सच्चा लगाव मुगल बादशाहों से ही है। फिर भी 'उर्दू की जबान' के उर्दू का

संबंध जातिगत न होकर केवल व्यक्तिगत ही है। अर्थात् उसका उद्गम स्थान या अड्डा उर्दू मात्र नहीं बल्कि शाहजहानाबाद का उर्दूएमुअल्ला ही है।

उर्दूएमुअल्ला की जबान उर्दू के नाम से ख्यात हुई तो सही किंतु उसे टकसाली होने की सनद तब मिली जब उसे फारसी की जगह शाही जबान होने का फख्र हासिल हुआ। हम पहले ही देख चुके हैं कि खान आरजू ने जिस लोक-भाषा को श्रेष्ठ ठहराया है वह ग्वालियारी या ब्रजभाषा है, कुछ देहलवी या उर्दू नहीं। उर्दू यानी शाही लोगों की हिंदी जबान को सनदी बनाने का सारा श्रेय जनाब 'उस्ताद' 'हातिम' को है जिन्होंने अपने दीवानजादे की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि उनके दीवान की भाषा शाही लोगों की भाषा है। उन्होंने उर्दू का स्पष्ट उल्लेख न कर उसकी व्याख्या भर कर दी है। उनका साफ साफ कहना है :—

"बरोज़मर्रः देहली की मिरज़ायाने ,हिंद व फ़सीहाने रिंद दर मुहावरः दारंद मंजूर दाश्तः सिवाय आँ ज़बाने हर दयार ता ब हिदवी कि आँ रा भाका गोयंद मौ.क़ूफ़ करदः।"

खान आरजू के मरते ही समय ने पलटा खाया। उसी का यह क्रूर परिणाम है कि उनकी सनदी भाषा का बहिष्कार हुआ और तैमूरी शाहजादों और फक्कड़ी फारसीपरस्तों की जबान की टकसाल कायम हुई जो कटछट कर सचमुच उर्दू

बन गई। उर्दू की टकसाल अब सिक्कों की जगह शब्दों पर अपनी छाप जमाने लगी और ठेठ हिंदी शब्दों को भी अरबी-फारसी बना दिया। लखनऊ की उर्दू टकसाल ने तो वह कर दिखाया जो उर्दू की असली टकसाल से भी न हो सका था। खैर, यह सिद्ध करना था कि वस्तुतः उर्दू का लश्कर या बाजार से कोई संबंध नहीं। सचमुच उर्दू उर्दू की यानी किलामुअल्ला की जबान है। उसका सच्चे हिंदियों से कोई मेल नहीं। यही कारण है कि जनाब 'अरशद' गोरगानी ने दिनदहाड़े दिलेरी के साथ यह दावा पेश कर दिया है :

"कभी वह दिन थे कि इस ज़बाँ के, हमीं थे वारिस हमीं थे हाकिम;
और अब सँभाली है गंजदारों ने, सूद लेकर दूकाने उर्दू।
यह सौदेवालों से कोई कह दो, कि ख़ाह सौदे को मुफ़्त बेचो,
तुम्हारी सौदागरी से हरगिज़, नहीं है ज़र्रः ज़ियाने उर्दू।
ज़बाने उर्दू के हम हैं वाली हमीं हैं मोबजिद हमीं हैं बानी,
मकीं नहीं हम तो देख लेना रहेगा वीराँ मकाने उर्दू।"[1]

संभव है, पद्य में होने के कारण आप इसे कवि की कोरी कल्पना कहकर टाल दें और उर्दू को शाही शाहजादों की चीज न समझें इसलिये इसको और भी खुले रूप में देख लीजिए। उन्हीं 'अरशद' गोरगानी का कहना है :

१—फ़रहंगे आसफ़िया, तकारीज़, जिल्द चहारुम, रफ़ाहे आम प्रेस, लाहौर सन् १९०१, पृ० ८५५ ई०।

"यह बात सबने तसलीम कर रक्खी थी कि असली उर्दू शाहज़ादगाने तैमूरियः की ही ज़बान है और लालकिलः ही इस ज़बान की टकसाल है। इसलिये सैयद ख़ास हमें और चंद और अज़ीज़ शाहज़ादों को बुलाते थे, आम से ग़र्ज़ न थी।"[१]

इस प्रसंग में भूलना न होगा कि उक्त सैयद ने अपनी जबाँदानी के लिये जो सनद हासिल की थी उसमें भी स्पष्ट कहा गया था—

"चूँकि यह शख़्स यहाँ का बाशिंदः है और अक्सर शाहज़ादों की सोहबत से बहरहयाब होता रहा है और इन्हीं लोगों पर यहाँ की ज़बान का दारोमदार है, इस सबब से मैं यक़ीन करता हूँ कि शायद इससे बेहतर कोई शख़्स इस बाज़ी को न ले।"[२]

याद रहे, यह वही उर्दू की सनद है जो श्री एम० डब्ल्यू० लन के सामने पेश हुई थी और जिसके प्रमाण पर सैयद अहमद देहलवी को उन्होंने अपने कोश का हिंदुस्तानी सहायक बनाया था।

स्वयं सैयद अहमद देहलवी उर्दू को क्या समझते हैं, कुछ इसका भी पता हो जाना चाहिए। उनको दुःख है कि :

"इस ज़बान के हक़ीक़ी वारिसों ने आठ पहर काम करने-वाले लोगों की ख़ातिर इसे एक बेवारिस बच्चः समझ कर ख़ुद

१—फ़रहंगे आसफ़िया, तकारीज़, जिल्द चहारुम, रफ़ाहे आम प्रेस, लाहौर सन् १९०१, पृ० ८४५ ई०।

२—वही, पृ० ८१२ ।

छोड़ दिया।.....बल्कि यहाँ तक कानों में तेल डालकर बैठे कि जिन लोगों को उर्दू ज़बान का तरक: पाना तो कैसा बोलने तक का सलीक़: नहीं वह इस ज़बान के लुग़तनिगार, मुहावर:दाँ, इस्तेलाहफ़हम, नुक्त:रस, अह्ले ज़बान .ख़ुदबख़ुद बन बैठे। मगर यह चुपके बैठे किसी मसलहत और वक्त के इन्तज़ार में सैर देखा और इस तरह दिल को तसल्ली दिया किए।"[1]

मतलब यह कि :

"अब कोई दिन में ख़ालिस उर्दू .ज़ुबान का सिर्फ़ नाम ही नाम रहकर इन नए ज़बाँदानों और नवदौलतों के हाथों कुछ से कुछ रंग हो जायगा और यह एक बेढंगी उर्दू बन जायगी। इसकी फ़साहत व बलाग़त, शुस्तगी व सलासत क़िल:वालों की तरह ख़ाक में मिल जायगी और दिल्लीवालों की तरह ज़मीन का पैवन्द हो जायगी तो हाथ मलने के सिवा कुछ भी हाथ न आयगा। कोई दिन जाता है कि यह ग़ारतगरे ज़बान इसे भी बेनाम व निशान कर देंगे।"[2]

'किलावालों' और 'दिल्लीवालों' के विषय में कुछ विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। शाह हातिम के 'मिरज़ायाने हिंद' और 'फ़सीहाने रिंद' से लेकर मौलवी सैयद अहमद

१—फ़रहंगे आसफ़िया, पहली जिल्द, सबब तालीफ़ पृ० २४.।

२—वही, पृ० २३।

देहलवी के 'किलावालों' और 'दिल्लीवालों' तक आपको एक ही बात दिखाई देगी कि

"हम अपनी ज़बान को मरहठीबाज़ों लावनीबाज़ों की ज़बान, धोबियों के खंड, ज़ाहिल ख़्यालबंदों के ख़्याल, टेसू के राग यानी बेसर व पा अल्फ़ाज़ का मजूमअः बनाना कभी नहीं चाहते और न उस आज़ादानः उर्दू को ही पसंद करते हैं जो हिंदुस्तान के ईसाइयों, नवमुसलिम भाइयों, ताज़ः विलायत साहब लोगों, ख़ानसामाओं, ख़िदमतगारों, पूरब के मनहियों, कैम्प ब्वायों और छावनियों के सतबेझड़े बाशिंदों ने एख़्तयार कर रखी है। हमारे ज़रीफ़ुल्तबा दोस्तों ने मज़ाक़ से इसका नाम पुड़दू रख दिया।"[1]

तात्पर्य यह कि उर्दू वस्तुतः उन लोगों की हिंदी ज़बान है जो "तुर्कीउन्नस्ल थे या फ़ारसीउन्नस्ल या अरबीउन्नस्ल। यह हिंदी की मुताबक़त किस तरह कर सकते थे"[2] कि उर्दू किसी छावनी या बाजार में मेलजोल, लेनदेन, सौदासुल्फ़ से बनती। उसकी असलियत तो यह है कि

"ख़ुशबयानान आँजा मुत्तफ़िक़शुदः अज़ ज़बानहाय मुतदिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूदः व दरबाज़े इबारात व

१—फरहंगे आसफ़िया, जिल्द अव्वल, सबब तालीफ़, वही, पृ० २३।

२—वही, मोक़द्दमा पृ० ८।

अल्फ़ाज़ तसर्रुफ़ बकार बुर्दः ज़बाने ताज़ः सिवाय ज़बानहाय दीगर बहम रसानीदंद व उर्दू मौसूम साख़्तन्द।"[1]

आश्चर्य की बात है कि उर्दू के इतिहास-लेखकों ने भूलकर भी सैयद इंशा के इस कथन पर ध्यान नहीं दिया कि

"शाहजहानाबाद के शिष्ट लोगों ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को चुना और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर फेर करके अन्य भाषाओं से अलग एक नई भाषा बना ली और उसका नाम उर्दू रख दिया।" उलटे लिख यह दिया कि उर्दू 'लश्कर' या 'बाज़ार' में 'ख़ुद ब ख़ुद' पैदा हो गई। परंतु जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उर्दू का किसी सामान्य 'लश्कर' या 'बाज़ार' से कोई संबंध नहीं। अब यदि उर्दू के विषय में और कुछ अच्छी तरह जानना हो तो कृपया सैयद इंशा का अध्ययन करें और प्रत्यक्ष देख लें कि उन्होंने 'दरियाएलताफ़त' में उर्दू के लिये क्या लिखा है और कहाँ तक उसे किसी 'लेनदेन,' 'सौदासुल्फ़' अथवा 'मेलजोल' की जबान माना है। उनका तो नपा तुला फतवा यह है :

"सिबाय बादशाह हिंदोस्तान कि ताज फ़साहत बर सर ओ मीज़ेबद, चंद अमीर व मुसाहिब शाँ व चंद ज़न क़ाबिल अज़ क़िस्म बेगम व ख़ानम व कसबी हस्तंद हर लफ्ज़े कि दरींहा इस्तैमाल याफ़्त ज़बान उर्दू शुद न ईं कि हर कस कि दर

१—दरियाए लताफ़त वही पृ० २

शाहजहानाबाद मी बाशद हरचि गुफ़्तगू कुनद मोतबर बाशद।"[१]

अस्तु, सैयद इंशा ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है कि उर्दू के सर्वप्रथम अधिकारी बादशाह यानी तैमूरी लोग हैं। उन्हीं के सर पर फसाहत का ताज है। उनके बाद जिन लोगों को महत्त्व मिला है वे उन्हीं के लग्गूबज्भू लोग हैं। 'अमीर', 'मुसाहिब,' 'बेगम', 'ख़ानम', 'कसबी' आदि सभी तो उर्दू या दरबार के लोग हैं। फिर उनकी शाही जबान को पुतली क्यों न सनद मानी जाय? रहे शाहजहानाबाद के शेष लोग। उनके लिये सैयद इंशा का स्पष्ट आदेश है कि उनकी भाषा प्रमाण नहीं। उनका विश्वास नहीं। चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, भाषा के क्षेत्र में दोनों ही हिंदुस्तानी होने के अपराधी हैं।

समझ में नहीं आता कि इतने पुष्ट प्रमाणों और इतने पक्के इतिहासों के होते हुए भी लोग किस मुँह और किस जबान से, किस बूते और किस आधार पर यह दावा करते हैं कि उर्दू 'लश्कर' में पैदा हुई, 'बाज़ार' में जन्मी और जाने क्या क्या 'सगुन' दिखा गई। अपने राम को तो यही सूझता और सच्चा जान पड़ता है कि उर्दू वस्तुतः लालकिला में पैदा की गई और

१—दरियाए लताफ़त, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू (हिन्द) वही, पृ० ६४।

फारसी के लद जाने पर उसकी जगह नीतिवश 'आमफ़हम' बताई गई। भाग्य की बात अथवा दिनों का फेर इसे कहते हैं कि जिन्हें बोलने का शऊर न था वे ही हमारी भाषा के विधाता बन बैठे और हमारे प्राणप्रिय अत्यंत प्रचलित ठेठ शब्दों को पकड़कर दलेल में उनकी मनमानी गति करने लगे। इसका जो दुष्परिणाम हुआ उसका देशद्रोही रूप धीरे धीरे दानव के रूप में सामने आ रहा है और प्रति दिन कोई न कोई एक नया अखाड़ा जमाया जा रहा है। अतएव भाषाविदों और सत्य-प्रेमियों से हमारा आग्रह और अनुरोध है कि अब भाषा की खोज के क्षेत्र में 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' को मानकर आगे न बढ़ें, बल्कि साहस, निष्ठा और दिलेरी के साथ सत्य को असत्य से, ऋत को अनृत से भली भाँति बिलगाकर दिखा दें और कम से कम भारत की निरीह जनता को भाषा की भूलभुलैया में इधर उधर भटकने और व्यर्थ में 'मैं कहीं और तुम कहीं' की भूतनी से बचा लें। आशा है 'उर्दू की ज़बान' की जो चर्चा यहाँ की गई है वह शीघ्र ही अपने सच्चे रूप में देश के कोने कोने में फैल जायगी और मर्मज्ञों की छाप से वह काम कर दिखाएगी जिसके बिना राष्ट्र आज पंगु हो चला है और संकट के संधिकाल में 'तू तू' और 'मैं मैं' के दलदल में सचमुच फँस गया है।